THE TIMES OF INDIA

Date: 07-04-18

Unhealthy stalemate

No public interest was served this budget session

TOI Editorials

This budget session of Parliament has set a dubious record with just 25-35% productivity, among the worst figures in a decade. The passing of key budget legislations involving thousands of crores of public money without discussion three weeks before the session ended, was followed by phenomenal laxity in taking up multiple no confidence motions moved by various opposition parties. Opposition failed to get disrupting members in its ranks to pipe down and government failed to reach out to the malcontents. The trust vote demanded that Lok Sabha speaker count 50 members supporting the motion, but Sumitra Mahajan kept citing disorder in the house to parry the simple task, which became a formality after parties like TDP, Congress, CPM and YSRCP together accounting for nearly 80 members ranged behind it.

The Speaker opted for quick adjournments instead of using her powers to rein in the members who continually disrupted the house on issues like Cauvery and Andhra special status. In contrast, the House has sat through louder sloganeering when governments have urgent legislative business. Andhra Pradesh chief minister Chandrababu Naidu has warned a precedent is being set where LS speakers cite disruptions to bail out governments in trouble.

Though the government enjoys an unassailable majority in Lok Sabha, it was perhaps worried that opposition speakers would delve into controversies like Nirav Modi's flight preceding a no confidence motion. Unnoticed in the din was the manner in which it pushed through, as part of the Finance Bill, changes in the Foreign Contribution (Regulation) Act, 2010, exempting from scrutiny foreign funds received by political parties with retrospective effect from 1976. This serves to insulate political parties, principally BJP and Congress, but at the cost of the public interest. It also makes today's political shouting matches over unaccounted money resemble sound and fury signifying very little.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 07-04-18

भारत के कमजोर प्रदर्शन की क्या है वजह?

एक बार हम मौजूदा अनिश्चितताओं से निजात पा जाएं तो निवेशक भारत का रुख करेंगे क्योंकि भारत में लंबी अवधि के दौरान बेहतर वृद्धि की संभावना है।

आकाश प्रकाश

अंतरराष्ट्रीय निवेशकों के मन में भारत को लेकर मोहभंग की सी स्थिति निर्मित होती जा रही है। बीते साल ज्यादातर वक्त वे बिकवाली करते रहे और भारत का प्रदर्शन भी तमाम उभरते बाजारों के बीच अब तक कमजोर बना हुआ है। इस वर्ष एशियाई बाजारों में केवल ऑस्ट्रेलिया में ही भारत से अधिक गिरावट आई। अन्य बड़े उभरते बाजारों में भारत सबसे निचले स्तर पर रहा। देश के कई लुभावने माने जाने वाले मिड कैप शेयर 20-25 फीसदी तक गिर गए। डॉलर के हिसाब से इनमें 10 फीसदी तक की गिरावट आई। कई निवेशकों के पोर्टफोलियो साल दर साल आधार पर गिरावट पर हैं।

बाजारों का प्रदर्शन कमजोर क्यों हो रहा है? निवेशक किन बातों को लेकर चिंतित हैं? विदेशी निवेशक पीएनबी धोखाधड़ी और बैंकिंग प्रणाली की दिक्कतों को लेकर चिंतित हैं। यह सब कब समाप्त होगा? फंसे हुए कर्ज में इजाफा कब खत्म होगा। किसी बैंकिंग तंत्र में उसके कॉर्पोरेट ऋण का 20-25 फीसदी फंसे हुए कर्ज में कैसे बदल सकता है जबकि मंदी भी न हो। बुरे से बुरे दौर में भी भारतीय अर्थव्यवस्था कभी 5 फीसदी से नीचे की दर से नहीं विकसित हुई। देश में एनपीए यानी फंसे कर्ज का सही आंकड़ा क्या होना चाहिए? ठीक उस वक्त जब हमें लग रहा था कि सरकार 32 अरब डॉलर की योजना के साथ इस समस्या से निपटने जा रही है तभी पता चला कि हमें इससे कहीं अधिक धनराशि की आवश्यकता है। एनपीए के बड़े मामलों के निपटारे में भी देरी हो रही है। एस्सार स्टील को एनपीए निस्तारण का चेहरा माना जा रहा था। माना जा रहा था कि इसके आधार पर ही निवेशक राजनीतिक इच्छाशक्ति का आकलन करेंगे। वह विवादित नजर आ रहा है। अगर यह परिसंपत्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रवर्तकों के पास चली जाती है तो आईबीसी सुधार पर सवाल खड़े होंगे। परिसंपत्ति की पहचान और प्रोविजनिंग के नए आरबीआई मानकों के आगमन के बाद बैंकों की बैलेंस शीट को फिर से झटका लगा। अधिकांश बैंक दोबारा घाटा दिखाएंगे और आने वाली तिमाहियों में भारी भरकम प्रोविजनिंग दिखाएंगे। एनपीए निवेशकों के धैर्य की प्रतीक्षा लेता नजर आ रहा है। बीते करीब पांच साल से हम सुन रहे हैं कि बुरा वक्त बीत चुका है और महज दो तिमाहियों में सब ठीक हो जाएगा। कई निवेशकों का मानना है कि बैंकिंग व्यवस्था और सरकारी बैंकों की दिक्कतें दूर किए बिना अर्थव्यवस्था उच्च वृद्घि दर की ओर वापस नहीं लौट सकती।

आशंका तो यह भी है कि जीएसटी संभावना से कहीं अधिक जटिल हो सकता है। जटिलता के साथ दुरुपयोग भी आएगा और यह आशंका पैदा हो जाएगी कि कर संग्रह पर असर पड़े। क्या बहु प्रशंसित सुधार भी निराशा लेकर आएगा? विश्व बैंक ने अपनी हालिया रिपोर्ट में इस सुधार की जटिलता और ऊंची दरों की बात की है। कर वंचना रोकने के ई-वे बिल जैसे उपायों में लगातार देरी हो रही है। इससे हालात और बिगड़ेंगे। जीएसटी एक जरूरी सुधार है लेकिन निवेशक इस बात को लेकर चिंतित हैं कि इसके लाभ सामने आने में बहुत अधिक समय लग सकता है।

वृहद अर्थव्यवस्था में कमजोरी का सिलसिला जारी है। कच्चा तेल 65-70 डॉलर प्रति बैरल पर जा पहुंचा है। यह स्तर अर्थव्यवस्था और राजकोष दोनों को नुकसान पहुंचा सकता है। चुनावों का वक्त आ रहा है और सरकार के राजकोष पर अंकुश न रख पाने की आशंका सर उठा रही है। अधिकांश पर्यवेक्षकों का मानना है कि सरकार राजकोषीय लक्ष्य हासिल करने में चूक जाएगी। बॉन्ड प्रतिफल भी चिंता का संकेत दे रहे हैं। आरबीआई ने 1 अप्रैल, 2018 से औपचारिक रूप से मुद्रास्फीति के लिए 4 फीसदी का लक्ष्य स्वीकार कर लिया है। ऐसे में मौद्रिक रियायत की कोई गुंजाइश अब नजर नहीं आती। आसान नकदी और कम ब्याज दरों का दौर खत्म हो रहा है। अब सवाल है कि दरों में कब और कितना इजाफा किया जाएगा? अर्थव्यवस्था में सुधार हो रहा है लेकिन इसके स्थायित्व पर सवाल है। क्या यह नोटबंदी के खात्मे का आधार प्रभाव है? या फिर अर्थव्यवस्था अपने बुरे दौर से गुजर चुकी है? हमें मौजूदा शेयर कीमतों को बरकरार रखने के लिए दो अंकों में वृद्धि हासिल करनी होगी। कई निवेशक प्रतीक्षा करने का रुख अपनाएंगे। मोदी सरकार के आगमन के वक्त से ही हम आय में सुधार की बात कर रहे हैं

लेकिन निराशा ही हाथ लगी। बीते पांच साल में हर तिमाही में आय के अनुमान कम हुए। निवेशक इसकी भरपाई हमेशा नहीं करेंगे। ताजा चिंता राजनीति से जुड़ी है। निवेशकों को अनिश्चितता पसंद नहीं। कुछ माह पहले तक मोदी सरकार की वापसी तय मानी जा रही थी लेकिन अब यह बात दावे से नहीं कही जा सकती। वैश्विक निवेशकों को अभी किसी वैकल्पिक व्यवस्था में यकीन नहीं लेकिन अनिश्चितता बढऩे से उनका विश्वास भी डगमगाएगा। घरेलू पूंजी की आवक मजबूत बनी हुई है लेकिन कई संस्थागत विदेशी निवेशकों का मानना है कि अभी इस आवक को एक पूर्ण चक्र से गुजरना है। क्या दरें बढऩे पर भी यह आवक जारी रहेगी? कीमतों में अस्थिरता और कई निवेशकों के वक्तव्य बताते हैं कि बीते एक साल में उन्हें कोई प्रतिफल नहीं मिला है। लंबी अवधि के पूंजीगत लाभ पर लगे कर से भी नुकसान हुआ है। अमेरिका से भारत में निवेश करने वाले अधिकांश दीर्घावधि की पूंजी कर रियायत वाली है। उपरोक्त कर ने उनके प्रतिफल को प्रभावित किया। घरेलू स्तर पर भी उसने प्रतिफल को प्रभावित किया। अगर घरेलू पूंजी की आवक का दौर बदलता है तो बाजार संकट में आ जाएगा।

नई तकनीक को लेकर भारत की तैयारी और स्थिति भी संदेह के घेरे में है। चीन जहां नवीकरणीय ऊर्जा, बिजली से चलने वाले वाहन, कृत्रिम बुद्धिमता और विनिर्माण में अव्वल है वहीं भारत पूरे परिदृश्य में कहीं नजर नहीं आता। उपभोक्ता इंटरनेट के क्षेत्र में भी चीन की कंपनियां आगे बढ़ रही हैं। जल्दी ही हमारे इंटरनेट का बड़ा हिस्सा उनके कब्जे में होगा। ये सारी चिंताएं जायज हैं। आने वाले वर्षों में भारत 7 से 8 फीसदी की वृद्धि दर हासिल कर सकता है। आय में सुधार होगा और दो अंकों की वृद्धि देखने को मिलेगी। इस वर्ष के अंत तक वृहद आर्थिक स्थितियों में स्थिरता आएगी और राजनीतिक अनिश्चितता भी कम होगी। बीते पांच साल में क्रमिक वैश्विक वृद्धि में भारत का योगदान करीब 10 फीसदी रहा है। आने वाले दशक में यह 12 फीसदी हो सकता है। हमारी आर्थिक वृद्धि के कारोबारी आय तथा शेयर बाजार के प्रदर्शन में बदलाव की अवस्था चीन से कहीं बेहतर है। एक बार हम मौजूदा अनिश्चितताओं से पार पा जाएं तो निवेशक भारत का रुख करेंगे।

नईदुनिया

Date: 06-04-18

ठहरी हुई संसद

संपादकीय

कुछ विपक्षी दल जिस तरह संसद में हंगामा करने के लिए आमादा हैं, उसे देखते हुए इसके आसार कम ही हैं कि इस सत्र के शेष दिनों में लोकसभा अथवा राज्यसभा में कोई कामकाज हो सकेगा। यह सामान्य बात नहीं कि संसद लगातार 21वें दिन भी नहीं चली। विपक्षी दल संसद में कोई कामकाज न होने देने के लिए किस तरह अड़े हैं, इसका पता इससे चलता है कि विगत बुधवार को राज्यसभा की कार्यवाही 11 बार स्थगित करनी पड़ी। नि:संदेह यह पहली बार नहीं जब संसद में गतिरोध कायम है, लेकिन यह बात नई अवश्य है कि विपक्षी दल जिन मसलों को लेकर हंगामा कर रहे हैं, उन पर बहस से भी बच रहे हैं। ऐसे में इस नतीजे पर पहुंचने के अलावा और कोई उपाय नहीं कि उनका एकमात्र उद्देश्य संसद को काम न करने देना है।

भारत सरीखे बहुदलीय लोकतंत्र में संसद में थोड़ा-बहुत हंगामा और गतिरोध होना स्वाभाविक है, लेकिन अगर संसद चलेगी ही नहीं तो फिर यह अपनी महत्ता खोने का काम करेगी। यदि संसद देश के समक्ष उपस्थित ज्वलंत समस्याओं पर चर्चा और जरूरी विधेयकों पर बहस नहीं कर सकती तो फिर उसे लोकतंत्र का मंदिर अथवा जन-आकांक्षाओं का मंच बताने का क्या मतलब? आखिर ऐसी संसद अपनी गरिमा की रक्षा कैसे कर सकती है, जिसमें कोई काम ही न हो सके? संसद की कार्यवाही में गिरावट कोई आज की समस्या नहीं है, लेकिन यह देखना दयनीय है कि सांसद किसी मसले पर विरोध जताने केलिए संसद की छत पर चढ़ जाएं अथवा शपथ ग्रहण के तत्काल बाद पीठासीन अधिकारी के समक्ष हंगामा करने पहुंच जाएं। हम सब इससे अवगत ही हैं कि संसद में किस तरह सुनियोजित तरीके से नारेबाजी करने और तख्तियां-बैनर लहराने का काम होने लगा है।

इसमें दोराय नहीं कि संसद चलाने की जिम्मेदारी सत्तापक्ष की है और इस जिम्मेदारी के निर्वाह के लिए विपक्ष की मांगों के प्रति लचीला रवैया आवश्यक है, लेकिन तब कुछ नहीं हो सकता जब विपक्ष असहयोग पर अड़ जाए। इसका कोई मतलब नहीं कि पक्ष-विपक्ष के कुछ नेता संसद न चलने के कारण्ा अफसोस प्रकट कर रहे हैं, क्योंकि अब आवश्यकता इसकी है कि सदन चलाने के कुछ नए तौर-तरीके तय किए जाएं और जरूरत पड़ने पर उन्हें कानूनी रूप भी दिया जाए। ऐसा इसलिए, क्योंकि विधायी सदनों की कार्यवाही के संदर्भ में जो आचार संहिता अथवा परंपरा है, उसकी धज्जियां उड़ चुकी हैं। यह वक्त की मांग है कि ऐसे नियम बनें, जिसके तहत विधेयकों पर बहस के लिए अलग से समय तय किया जाए और इस दौरान हंगामा निषेध हो। इसी तरह किसी मसले पर दो-तीन से ज्यादा बार सदन स्थगित न करने का नियम बने। यदि गतिरोध इस पर हो कि बहस किस नियम के तहत हो तो आम सहमति बनाने की अवधि तय की जाए और फिर भी सहमति न बने तो किसी अन्य खास नियम के तहत बहस अनिवार्य की जाए। इस मामले में दुनिया के श्रेष्ठ लोकतांत्रिक देशों से सबक सीखा जा सकता है। वैसे भी यह किसी से छिपा नहीं कि हम सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश भले ही हों, लेकिन बेहतर नहीं हैं।

जनसत्ता

Date: 06-04-18

आतंक की जमीन

संपादकीय

संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद ने आतंकवादियों और आतंकी संगठनों की जो नई सूची जारी की है, उससे एक बात साफ है कि वैश्विक शांति के लिए पाकिस्तान बड़ा खतरा बन चुका है। इस सूची में एक सौ उनतालीस नाम ऐसे हैं जो सीधे तौर पर पाकिस्तान से जुड़े हैं। सुरक्षा परिषद की इस सूची में दाऊद इब्राहीम और जमात-उद-दावा के संस्थापक हाफिज सईद का भी नाम है। मुंबई हमलों की साजिश हाफिज सईद ने ही रची थी, जिसमें एक सौ छियासठ लोग मारे गए थे। जबकि 1992 में मुंबई को विस्फोटों से दहला देने वाला सूत्रधार

दाऊद इब्राहीम ही था। इसमें तीन सौ से ज्यादा लोग मारे गए थे। सुरक्षा परिषद की इस सूची के आने से ठीक एक दिन पहले अमेरिका ने हाफिज और उसकी पार्टी मिल्ली मुसलिम लीग (एमएमएल) को विदेशी आतंकवादी संगठन की सूची में डाल दिया है। एमएमएल हाफिज के संगठन जमात-उद-दावा की राजनीतिक इकाई है और यह पार्टी जुलाई में पाकिस्तान के संभावित अगले आम चुनाव में शिरकत करने जा रही है। सियासत को सीधे प्रभावित कर हाफिज पाकिस्तान को किधर ले जाएगा?

आतंकवाद की मार झेल रहे भारत सहित कई देश सुरक्षा परिषद में लंबे समय से पाकिस्तान को आतंकवादी देश घोषित करने की मांग कर रहे हैं। ऐसे में सुरक्षा परिषद की इस सूची के दूरगामी संदेश हैं। इसमें अब कोई दो राय नहीं कि पाकिस्तान आतंकवादियों की पनाहगाह बन चुका है। इन आतंकी संगठनों पर आइएसआइ का वरदहस्त है। इन्हीं से आतंकी संगठनों को हथियार, पैसा और प्रशिक्षण मिलता है। ये आतंकी संगठन भारत ही नहीं, अफगानिस्तान में भी कहर बरपाने की फिराक में रहते हैं। अल कायदा ने यूरोप और अमेरिका तक की नींद उड़ा दी है। लादेन को पाकिस्तान ने अपने यहां सुरक्षित ठिकाना मुहैया करा रखा था। अब जवाहिरी को छिपा रखा है। क्या पाकिस्तान इस सच को झुठला पाएगा कि वह अपनी जमीन से आतंकवादी गतिविधियां नहीं चलने दे रहा है?

भारत लंबे समय से पाकिस्तान से मांग कर रहा है कि वह मुंबई विस्फोटों के जिम्मेवार दाऊद इब्राहीम को उसे सौंपे। लेकिन पाकिस्तान शुरू से ही इस तथ्य का खंडन करता रहा है कि दाऊद उसके यहां है। वैश्विक मंचों से भी पाकिस्तान ने बार-बार यही कहा कि दाऊद उसके यहां नहीं है। लेकिन सुरक्षा परिषद ने पाकिस्तान में दाऊद की मौजूदगी का जो ब्योरा दिया है, उससे उसके झूठ की पोल खुल गई है। सुरक्षा परिषद ने बताया है कि दाऊद के पास कई पासपोर्ट हैं, जो रावलपिंडी और कराची से जारी हुए हैं। कराची के नूराबाद में दाऊद का बड़ा बंगला है। सवाल है कि इसके बाद पाकिस्तान को और क्या सबूत चाहिए? हाफिज सईद और दाऊद इब्राहीम दोनों की इंटरपोल को तलाश है। दुनिया जान चुकी है कि दोनों पाकिस्तान की पनाह में हैं। तो फिर क्या वजह है कि इंटरपोल की पहुंच से दोनों आज भी बाहर हैं? अब सुरक्षा परिषद की यह सूची भी पाकिस्तान को संभलने के लिए कड़ा संदेश है। पाकिस्तान या तो अपनी हरकतों से बाज आए और आतंकवाद पर लगाम लगाए, या फिर कड़ी कार्रवाई को तैयार रहे। अब पाकिस्तान क्या फैसला करना चाहेगा, यह देखने की बात है!

राष्ट्रीय सहारा

Date: 06-04-18

सर्वोच्च अदालत की सख्ती

जाहिद खान

सर्वोच्च न्यायालय ने स्वेच्छा से अंतरजातीय और अंतरधार्मिक विवाह करने वाले वयस्कों के मामले में खाप पंचायत जैसे समूहों के दखल को पूरी तरह गैरकानूनी करार दिया है। प्रधान न्यायाधीश दीपक मिश्रा, न्यायमूर्ति एएम खानविलकर और न्यायमूर्ति धनंजय वाई चन्द्रचूड़ की तीन सदस्यीय खंडपीठ ने इस तरह के हस्तक्षेप को रोकने के लिए हाल ही में दिशा-निर्देश जारी किए हैं और कहा है कि इस संबंध में संसद से कानून बनने तक ये प्रभावी रहेंगे। पीठ ने अपने फैसले में खाप पंचायतों के प्रति कड़ा रुख दिखाते हुए साफ कहा कि खाप पंचायतें, कानून अपने हाथ में नहीं ले सकतीं।

सरकार, अनर किलिंग से प्रेमी जोड़ों को बचाने के लिए उचित कार्रवाई करे। अदालत ने अपने फैसले में यह भी स्पष्ट कर दिया कि जब दो वयस्क आपसी सहमति से शादी करते हैं, तो उसे रद्द करने का अधिकार सिर्फ अदालत के पास है और खाप शादी को रद्द नहीं कर सकते और न ही किसी भी प्रकार की हिंसा का इस्तेमाल कर सकते हैं। जाहिर है कि शीर्ष अदालत की इस व्यवस्था से अंतरजातीय और परस्पर अलग-अलग धर्म में शादी करने वाले उन वयस्कों को राहत मिली है, जिन्हें अक्सर अपनी मर्जी से विवाह करने पर विरोध का सामना करना पड़ता है। कई बार तो परिवार या खाप की इज्जत के नाम पर उनकी हत्या तक कर दी जाती है।

शीर्ष अदालत में स्वयंसेवी संस्था शक्तिवाहिनी ने साल 2010 में एक याचिका दायर कर गुहार लगाई थी कि खाप पंचायतें अंतरजातीय और अंतर धार्मिक विवाह की विरोधी हैं और इसके चलते कई लोगों की हत्या भी हुई है। याचिकाकर्ता ने अदालत से परिवार की इज्जत की खातिर होने वाले ऐसे अपराधों की रोकथाम के लिए केंद्र और राज्य सरकारों को कदम उठाने का निर्देश देने का अनुरोध किया था। बहरहाल इस मामले में जब पीठ ने सुनवाई शुरू की, तो खाप पंचायत की तरफ से पेश हुए वकील ने दलील दी कि खाप पंचायत अंतरजातीय या अंतर धार्मिक विवाह के खिलाफ नहीं बल्कि एक ही गोत्र में शादी के खिलाफ हैं।

इस पर चीफ जस्टिस ने कहा कि वे समाज के ठेकेदार नहीं बन सकते। जब अलग-अलग धर्म, जाति, पृष्ठभूमि वाले दो वयस्क आपसी सहमति से विवाह करते हैं, तो कोई भी रिश्तेदार या तीसरा पक्ष इसमें न तो हस्तक्षेप कर सकता है और न ही उन्हें धमकी दे सकता है या हिंसा का सहारा ले सकता है। अदालत का यह कहना संविधानसम्मत भी है। यह पहली मर्तबा नहीं है, जब सर्वोच्च न्यायालय ने खाप पंचायतों के सामंती, अलोकतांत्रिक तौर-तरीकों और नाजायज कामों पर कड़ा रुख दिखाया हो, बल्कि आज से आठ साल पहले जून 2010 में उसने अपने एक फैसले में खाप पंचायतों के फरमान पर होने वाली अनर किलिंग रोकने के लिए केंद्र और राज्य सरकारों से सख्त कदम उठाने को कहा था।

यही नहीं फिर एक दीगर मामले में अनर किलिंग को देश के लिए कलंक बताते हुए, अधीनस्थ अदालतों को निर्देश दिया था कि ऐसे मामलों को दुर्लभतम श्रेणी का अपराध माना जाए। ताकि दोषियों को मौत की सजा दी जा सके। मगर फिर भी हालात जरा से भी नहीं सुधरे। किसी भी लोकतांत्रिक देश में सामाजिक मूल्यों और मान-मर्यादा की हिफाजत के नाम पर खाप पंचायतों के मनमाने फरमानों को जरा भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। खाप पंचायतें अपनी सफाई में चाहे जो कहें, पर सवाल यह उठता है कि कोई भी समाज महिलाओं की जीवनशैली और उनके सोचने-समझने पर नियंत्रण रखकर सभ्य होने का दावा कैसे कर सकता है? अपनी मनपसंद शादी से महिलाओं को रोकना, उनके मौलिक अधिकारों में सीधे-सीधे दखलअंदाजी है। खाप पंचायतों का जाति व्यवस्था बनाए रखने का तर्क, किसी व्यक्ति की स्वतंत्र रूप से अपना साथी चुनने की आजादी छीनता है। किसी महिला को उसकी पसंद से शादी नहीं करने देने के गंभीर सामाजिक और आर्थिक दुष्परिणाम हैं।

ऐसा नहीं होने देने के लिए महिलाओं की स्वतंत्र रूप से आवाजाही पर प्रतिबंध लगाया जाता है और उसकी शिक्षा, रोजगार व मौलिक अधिकारों पर असर पड़ता है।' यदि अंतर-जातीय और अंतर-धार्मिक शादियों को खाप पंचायतों की दखल से बचाने के लिए कोई केंद्रीय कानून होता, सरकार ऑनर किलिंग से प्रेमी जोड़ों को बचाने के लिए उचित कार्रवाई करती, तो सर्वोच्च न्यायालय को क्यों, आज इस संबंध में कानून बनने तक दंडात्मक और उपचारात्मक अंतरिम प्रावधान जारी करने पड़ते?

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 06-04-18

हमारी पसंद और प्राथमिकता का सुविधा समीकरण

राहुल मत्थान , कानूनी मामलों के विशेषज्ञ

जब कभी कैंब्रिज एनालिटिका जैसी कोई घटना घटती है, हम उसके लिए जिम्मेदार इंडस्ट्री को नियंत्रित करने के बारे में सोचने लगते हैं। हम सोचते हैं कि ये घटनाएं न घटी होतीं, अगर हमारे यहां सही कानून रहा होता, और अब जब बुरा घट चुका है, तो हम सोच रहे हैं कि हमें उन सूराखों को दोगुनी मजबूती से भर देना चाहिए, जिनके कारण यह घटना घटी। वास्तव में हमें किस चीज को नियंत्रित करने की जरूरत है? आधुनिक टेक कंपनियां हमारे दैनिक जीवन के हर क्षण की जानकारी बटोरने पर केंद्रित हैं। वे हमें अच्छी तरह पहचान गई हैं। वे जानती हैं कि हम कौन हैं और हमें क्या कुछ पसंद है।

उन्होंने इस काम के लिए मनोवैज्ञानिकों की कोई फौज नहीं तैनात की है, बल्कि वे स्मार्ट अल्गोरिद्म (गणित के समीकरण) विकसित करके यह सब कर रही हैं। यह स्मार्ट अल्गोरिद्म हमारी इच्छाओं के आधार पर हमें विभिन्न श्रेणियों में छांटने में सक्षम है। जाहिर है, यह पता लग जाने के बाद कि हम कौन हैं, उन्हें अपनी सेवाओं से संबंधित हमारे

अनुभवों को बेहतर बनाने में मदद मिलती है, क्योंकि वे हमें वही चीजें और सेवाएं मुहैया कराती हैं, जो विशेष रूप से हमारी पसंद और प्राथमिकताओं के अनुकूल हों। यही वह बात है, जो हमें उनकी तरफ खींचती है, हमें उनसे जोड़े रखती है। यही वह उपभोक्ता अनुभव है, जो हमें हमसे बिना पूछे ही हम जो चाहते हैं, वह मुहैया करा देता है।

आज हर कारोबार का मूल बिंदु है 'पर्सनलाइजेशन', यानी अपने हिसाब से ढालना। हर कंपनी हमें बेहतर से बेहतर तरीके से जानना-समझना चाहती है, ताकि वह हमें ऐसी वस्तु या सेवा मुहैया करा सके, जो हम सबसे अलग चाहते हैं। पर्सनलाइजेशन के और भी कई फायदे हैं। मसलन, हमारे व्यक्तिगत 'फेनोटाइप' और 'माइक्रोबायोमी' (यह हमें रोगाणुओं से बचाता है, इससे हमें ऊर्जा मिलती है और यह विटामिन पैदा करता है) से जुड़ी बीमारी के आधार पर विशेष उपचार अधिक फायदेमंद साबित होता है, और इसमें साइड इफेक्ट का जोखिम भी कम से कम है। विशिष्ट दवाएं तेजी से अब हकीकत का रूप ले रही हैं और जिस तरह से हम आर्थिक रूप से समर्थ स्मार्ट डिवाइसों के जरिए निजी शारीरिक मानदंडों का ख्याल रखने लगे हैं और अपने जीनोम से जुड़ी जानकारियां बढ़ा रहे हैं, उसे देखते हुए बहुत जल्द ही हम अपनी रोजमर्रा की इलाज संबंधी जरूरतें पूरी करने में भी सक्षम हो जाएंगे।

लेकिन पर्सनलाइजेशन का एक नकारात्मक पहलू भी है। हम सेवा मुहैया कराने वाली कंपनियों को अपने बारे ज्यादा से ज्यादा जानकारी जुटाने की इजाजत आसानी से दे देते हैं, ताकि उनकी बेहतर सेवा पा सकें, पर यह हमारे विरुद्ध ही हथियार बन सकती है। यह हमें कुछ यूं अलग-थलग कर देती है कि सिर्फ सीमित सूचनाएं हम तक पहुंचती हैं और हमारी राय से इतर जरूरी जानकारियों तक हमारी पहुंच सेंसर हो जाती है। यह तरीका हमें सोशल इंजीनियरिंग के लिहाज से भी काफी असुरक्षित बना देगा, क्योंकि हमारी पहचान चोरी हो सकती है। डाटा चालित पर्सनलाइजेशन के नियमन की मुख्य दुविधा यह है कि अगर हम इसकी इजाजत देते हैं, तो इसमें किसी असामाजिक तत्व द्वारा हमें वित्तीय, बौद्धिक और प्रतिष्ठा संबंधी नुकसान पहुंचाए जाने का जोखिम भी होगा। अगर हम इस पर पूरी तरह से रोक लगाते हैं, तो हम पर्सनलाइजेशन से मिलने वाले फायदों से खुद को वंचित कर देंगे।

अगर हम अपना नियमन संबंधी फोकस कंपनियों को इस बात के लिए प्रोत्साहित करने और उनके ऊपर दबाव बनाने पर रखें कि वे जिस अल्गोरिद्म को डिजाइन कर रही हैं, उसे व्यावसायिक मुनाफे तक सीमित न रखकर विस्तृत परिप्रेक्ष्य में रखें, तो हम डाटा इकोनॉमी को ज्यादा प्रभावी तरीके से नियंत्रित कर सकते हैं। यदि एक सुविचारित सीमा रेखा तय कर दी जाए कि उन्हें इसको पार नहीं करना है, तो इससे टेक कंपनियों को इनोवेशन की आजादी भी मिलेगी और कठोर व प्रभावी दंड प्रावधान को देखते हुए वे आर्थिक फायदे से आगे देखने के लिए बाध्य होंगी। वे ऐसे अल्गोरिद्म व बिजनेस प्रक्रिया डिजाइन करेंगी, जो उन्हें नुकसान न पहुंचाए।

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 06-04-18

Dignity, but for whom?

Verdict on living wills does not take into account socioeconomic realities.

Shah Alam Khan, [The writer is professor, Department of Orthopaedics, AIIMS.]

A five-judge bench of the Supreme Court of India has legalised passive euthanasia and permitted the "living will". A person making such a will can state that medical support be withdrawn when he or she becomes terminally ill. The verdict has been hailed for its far-reaching impact on Indian society. Though the five judges differed on the matter, they were unanimous in allowing "living will".

As a surgeon who has been treating bone cancers for the last 15 years, I have seen innumerable patients die and survive. I, therefore, have a different perspective on the judgment. I believe that death has an immorality of its own. It is inevitable. The Supreme Court judgment has, in a sense, added morality to death. Paul Kalanithi in his bestseller, When Breath Becomes Air, has written "But knowing that even if I'm dying, until I actually die, I am still living." For physicians who see the dying from a close quarter, nothing could be truer. The process of life is not over till it ends. Whether this judgment is bound to change that perception is something we will have to wait and see.

A living will which allows one to choose death is a privilege which only the educated can avail. In a country which is riddled with ignorance and illiteracy, who can make such a living will is no secret. Thus, in a sense, the provision of passive euthanasia in India becomes exclusive to the educated, if not the elite. The judgment draws blood from similar judgments and cases in the US and Australia. To believe that we can emulate the legal provisions of these nations on a contentious issue like euthanasia is not only difficult but outrageous. For many of us who treat terminally-sick patients, the judgment appears blemished as it bestows death (through passive euthanasia) upon some while "actively" denies it to others. A law that does not take into account the poverty and ignorance in society requires a serious re-think.

It is also important to realise that the spectrum of something as certain as a "terminal" illness or even a vegetative state is very broad. As physicians, we see patients come out of their terminal states to lead a normal life. To assume that this is uncommon is unaffordable frivolousness. The premise of using passive euthanasia in terminal conditions as allowed by the Supreme Court judgment can be easily misused by doctors, kin and even by the patients. This is something that needs constant evaluation by the treating physician, free from the diktats of the law.

A brief review of the healthcare services is a must before we accept the concept of passive euthanasia as interpreted by the Court. India's healthcare facilities are among the poorest in the world. Most of passive (and active) euthanasia across the globe is practised by hospice and palliative care specialists. The concept of hospice services (which are end of life services within a medical or home setup) are practically non-existent in India. In the absence of well-organised hospice services in most government and private hospitals, there is no guarantee of a decent death to the patients who will choose passive euthanasia.

The judgment makes an interesting point: "It is to be borne in mind that passive euthanasia fundamentally connotes absence of any overt act either by the patient or by the doctors." This is interesting because it raises a question of morality versus legality on part of the doctor who will preside over the death of a willing patient. Doctors are bound by acts of commission or omission which should be in tune with the patient's welfare. The intent of treatment is defined through our acts of omission or commission, which should help the patient to get better. For example, what should a doctor do in the case of a dying patient on a ventilator who had made a living will? By the words of the judgment, the doctor is not allowed to administer a lethal injection (active euthanasia). To slowly withdraw life support would mount to an act of commission thereby raising significant questions of morality and will be against the legal words of the honorable Court. This grey area leaves dangerous space for manipulation and even murder.

The argument on euthanasia is always on moral grounds — right versus wrong, murder versus suicide. Judgments like the one by the Supreme Court of India represent the traits of an evolving society. We are a complex society entrenched in our past and living in a promised future. For passive euthanasia to be seriously considered as an option in a country like ours, we need to keep in mind the words of Immanuel Kant, the proponent of the principles of ethics which form the basis of medical ethics. He argued that morality can't be based on happiness; moral principles have to be derived from practical reason alone.

Date: 06-04-18

The Catch In Autonomy

Universities will be subject to the dictates of the market

Arun Kumar, [The writer is former president, JNU Teachers Association and Former President of Coordination Committee of Teachers Associations of Delhi Universities]

A new scheme of greater autonomy to educational institutions has been announced. Depending on their NAAC scores, institutions will be slotted in category I, II and lower. There will be less autonomy as the rank declines. Those in the highest category will have the freedom to start new courses, hire foreign faculty and pay higher emoluments to faculty, So, some will have more freedom but others will have even less. Autonomy has been identified as the key to improving the quality of higher education in India. So, would the current move lead to high quality higher education?

The UGC was set up to finance higher education. But, the one who controls the purse strings controls policy. In India, UGC increasingly controlled the functioning of the institutions it funded. It set syllabus, minimum qualifications for recruitment and specified attendance. The courts drove the last nail in the coffin of autonomy by requiring that UGC standards be followed. What is wrong with regulation, given that many academics are known to be shirkers and many institutions are in bad shape?

The issue is: Can "standards be achieved by standardisation"? UGC and its committees became the arbiter of standards and all institutions were expected to fall in line. This includes the points an academic had to collect under the API system to get promoted, the degrees and tests needed to become a teacher and so on. Teachers had to be upgraded periodically through training institutions. The entire structure of teaching-learning was progressively determined by the UGC. With each pay commission, there were more and more regulations and diktats.

Has the quality of education improved with all these standards? Shirkers continue to shirk and institutions have deteriorated in quality. There are more institutions of higher learning, many more students in them and also more pathology in the education system. To understand what makes for a great institution of learning and how learning is to be nurtured, one has to go to the basic design of institutions of higher learning.

Great institutions of learning accept that knowledge is not ready made and has multiple sources. Different people have different ways of learning and producing knowledge. Someone may publish many

papers each year while some may publish a seminal work in a decade. Nobel Prize winner Higgs (God particle fame) said for the first 15 years at Cambridge he did not publish anything.

A multiplicity of approaches are needed for knowledge to advance. Many may fail and others who learn from them may advance knowledge. In economics, inflation may be explained in many ways and policies to check it may be based on one or the other approach.

In higher education a great deal of freedom is required to generate ideas. A degree of irreverence toward authority is essential. Unfortunately, in India this is treated as a malaise. Autonomy, therefore, implies the freedom to pursue one's own path of knowledge generation. Teachers in higher education institutions need to devise their own courses to teach the perspective they feel best reflects the subject — standardised courses, like in schools, are undesirable. Good teaching and research go hand in hand. This requires commitment which comes when academics have autonomy.

Academic autonomy must filter down. The institution must have autonomy from external pressures, the department must have autonomy from the head of the institution and the teacher from the head of the department. Unfortunately, in India, autonomy (if at all) mostly stops with the head of the institution. Faculty is supposed to comply with the orders as in a bureaucracy. This leads to sycophancy and compliance. Often the heads of institutions are army men, bureaucrats and police men who know how to keep discipline. This cannot be the academic milieu.

The latest move to provide graded autonomy to institutions is designed to curtail the autonomy of academics in these institutions. The catch is that the institutions will have to generate their own funds for many of the freedoms they are being granted. So, they would be subject to the dictates of the market. Consequently, professional courses may get money but not the core social sciences or sciences. There would be pressure to move towards paying courses. Those not catering to the markets would be marginalised and the generation of the socially relevant knowledge would decline.

The idea of becoming world class implies that our institutions would have to create facilities that prevail in the advanced countries to attract faculty and students from there. But in a poor country like India would that not drain resources from other institutions? Would better facilities mean a more socially committed faculty? If the faculty is required to publish and be associated with institutions abroad would they retain the commitment to generating socially relevant knowledge? This is another way of undermining autonomy. The new policy confuses the autonomy for individual faculty members with that for the institution, that too truncated by the dictates of markets.

THE HINDU

Date:06-04-18

'Skill India' urgently needs reforms

There is no way the country can reap its demographic dividend without fixing vocational education

Santosh Mehrotra & Ashutosh Pratap , [Santosh Mehrotra is Professor, Centre for Labour, JNU, a member of the Expert Committee on SSCs, and a lead author of the NSQF. Ashutosh Pratap worked with the Expert Committee]

Salvaging the Indian demographic dividend must be a key part of India's growth story. In 2016, the Government of India formed the Sharada Prasad Committee to rationalise the Sector Skill Councils (SSCs), which are employer bodies mostly promoted by the Federation of Indian Chambers of Commerce and Industry, the Confederation of Indian Industry and other industry associations, and improve 'Skill India'. The committee submitted its report in 2016. Now over a year later, it may be prudent to look at the reforms it suggested and action taken in the vocational education/training (VET) system.

Skills within schools

The two goals in 'Skill India' are, first, to meet employers' needs of skills and, second, to prepare workers (young and old) for a decent livelihood. The recurring theme in the report is its focus on youth. Each recommendation underlines that the VET is not just for underprivileged communities; it is not a stopgap arrangement for those who cannot make it through formal education. It is for all of us.

Streaming for students

It suggests concrete steps to ensure a mindset change, such as having a separate stream for vocational education (in secondary education), creating vocational schools and vocational colleges for upward mobility, and having a Central university to award degrees and diplomas. Streaming would mean that the 'diploma disease', which is resulting in growing tertiary enrolment along with rising unemployment among the educated, would be stemmed. China, for instance, has such a separate stream after nine years of compulsory schooling, and half the students choose VET at the senior secondary level (after class nine).

This requires a serious engagement of employers. Private vocational training providers (VTPs) that mushroomed as private industrial training institutes (ITIs) and National Skill Development Corporation (NSDC)-financed short-term training providers are no substitute for industry-employer engagement with each pillar of the VET ecosystem: secondary schools; ITIs, public and private; NSDC-funded VTPs; ministries that train, and firms that conduct enterprise-based training.

A global alignment

The second recurring theme is the realisation of human potential. This means aligning the courses to international requirements, ensuring a basic foundation in the 3Rs, and life-long learning. It implies national standards for an in-demand skill set with national/global mobility that translates into better

jobs. Short duration courses (with no real skills) that provide low pay for suboptimal jobs cannot be called national standards. Hence the current national standards have to drastically improve.

This means that we should have no more than 450 courses — Germany has only 340 courses — in accordance with the National Classification of Occupations 2015 (which itself was based on the International Standard Classification of Occupations). Such trainees will be a national asset. What we have instead are nearly 10,000 standards, produced mostly by consultants. There cannot be thousands of standards (compressed into 2,000 qualification packs/job roles), and "delivered" to trainees in a matter of a few months. This is not what the National Skills Qualification Framework (NSQF) had recommended. The focus should be in strengthening reading, writing and arithmetic skills. No skill development can succeed if most of the workforce lacks the foundation to pick up skills in a fast-changing world. Vocational training must by definition be for a minimum of a year, which includes internship (without which certification is not possible). Short-term training should be confined to recognising prior learning of informally trained workers who are already working.

The third theme is to do what is right when no one is watching you, because, as in other industries, the regulator has displayed a limited capacity to regulate. Cases of a conflict of interests, of rigged assessments and of training happening only on paper are not new.

A recent parliamentary report on private ITIs has exposed yet another scam — the Quality Council of India's approval for thousands of private ITIs. If the number of private ITIs has grown from under 2,000 to over 11,000 in five years, it points to a colossal failure of regulation, accompanied by a lack of quality training on offer at such ITIs.

There is a huge ethics and accountability issue if there is no credible assessment board and when there are too many sector skill councils, each trying to maximise their business. The Sharada Prasad Committee had recommended that the number of SSCs should correspond to the National Industrial (Activity) Classification (which has 21 economic activities across the entire economy), but which is still way larger than Australia's six. Little has happened except for the number of SSCs dropping from 40 to 39.

For a unification

The first policy step should be towards a unification of the entire VET system. What we have today are fragmented pillars. Each of the five pillars does what it wants to, with no synergy. An NSDC-centric focus has left the skill development efforts of 17 ministries out of the same scrutiny. 'Skill India' can have an impact only when all of them work together and learn from each other. SSCs, which are supposedly industry representatives, should be engaging themselves with each pillar of the system, and not just NSDC-funded VTPs.

The second step is to enhance employer ownership, responsibility and their 'skin in the game'. Media reports often highlight the corporate sector lamenting about "unemployable youth". The private sector places the onus on the government, treating it as a welfare responsibility, while the government looks to the private sector since it is the end consumer of skills. The result is that only 36% of India's organised sector firms conduct in-firm training (mostly large ones, which are also the only ones that take on apprentices under a Government of India Act).

We need a clear fix for this. In this regard the committee's recommendation of a reimbursable industry contribution model (applicable only to the organised sector) should solve the perennial problem of

poaching while providing a common level field. It could ensure reimbursements for those companies undertaking training while rewarding industry for sharing and undertaking skilling until everyone in the company is skilled. This will lay the foundation for making at least our organised workforce 100% skilled.

The third policy step is in getting the government to recognise that decades have been spent in building a government-financed and managed, and hence supply-driven system.

Data gathering by sector

Does the government, which is not generating much employment in the public sector, really know what industry's skill requirements are in the private sector? Private employers do know this but there has been no serious effort by them to gather data. So the government needs to confine itself to roles it is capable of performing and not involving itself through multiple ministries in activities in which it has no comparative advantage.

One such role is to have surveys, once every five years, through the National Sample Survey Office, to collect data on skill providers and skill gaps by sector. Such data can guide evidence-based policy-making, as against the current approach of shooting in the dark.

Finally, we need more reflection from stakeholders on the actual value addition done by the skilling initiative. The NSDC, which was envisioned as a public-private partnership, receives 99% of its funding from government, but its flagship scheme has a less than 12% record of placement for trainees. The NSQF framework has seen little adoption in private sector. And, more than two-thirds of courses developed have not trained even one student so far. India can surely become the world's skill capital but not with what it is doing right now. The reforms suggested by the committee can be a good starting point for we cannot let another generation lose its dreams.